

## बिहार में शैक्षणिक गुणवत्ता एवं प्राथमिक शिक्षा : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. पवन कुमार

राजनीति विज्ञान, बी.आर.ए.विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

स्वतंत्रता प्राप्ति के 72 वर्ष बाद के समय कुछ गम्भीर आत्म-निरीक्षण करने की आवश्यकता है, विशेष रूप से सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में। औपनिवेशिक शासन की अवधि में शिक्षा के प्रति बरती गई उपेक्षा की तुलना में, सुविधाओं में प्रशंसनीय विस्तार हुआ है, लेकिन निरक्षरता और अभाव के अभिशाप को पूरी तरह मिटाया नहीं जा सकता है। यद्यपि पिछले पांच दशकों में दलितों, जनजातीय व्यक्तियों और महिलाओं की भागीदारिता में सुधार हुआ है, लेकिन हमारी सोपानात्मक सामाजिक व्यवस्था में असमान विकास का पता विभिन्न समुदायों के शैक्षणिक स्तरों के सूचकों से मिलता रहता है। हमारे लगभग चालीस प्रतिशत जिलों में महिला साक्षरता तीस प्रतिशत से कम है। चार में से लगभग एक जिले में अनु० जातियों/अनु० जनजातियों में महिलाओं की साक्षरता दस प्रतिशत से कम है। स्कूल में दाखिल होने वाले बच्चों में से लगभग एक तिहाई बच्चे पांच वर्ष की प्राथमिक शिक्षा को पूरा करने से पहले ही बीच में पढ़ाई करना छोड़ देते हैं, और आधे से अधिक बच्चे प्रारम्भिक शिक्षा के आठ वर्ष पूरे होने से पहले पढ़ना बन्द कर देते हैं। जो बच्चे स्कूल में बने रहते हैं, उनमें से आधे 'मुश्किल से' शैक्षणिक स्तर प्राप्त कर पाते हैं, जिनकी उनसे अपेक्षा की जाती है। अधिकतर सरकारी प्राथमिक स्कूलों में कक्षाओं के कमरे आमतौर पर ऐसे होते हैं, जिनमें जाने को मन नहीं करता, उनमें बिजली, पीने के पानी अथवा शौचालय की व्यवस्था नहीं होती और वे विभिन्न आयु के बच्चों से भरे होते हैं। एक सामान्य स्कूल में आम तौर पर दो अध्यापक होते हैं जो पाँचों प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों को काबू में रखने (पोलिसिंग) की कोशिश करते रहते हैं, और अधिक से अधिक यह पढ़ाते हैं कि बच्चों को पाठ्यपुस्तकों से नकल करने अथवा पढ़ने के लिए कह देते हैं। किसी सामान्य स्कूल का पता दूर से ही चल जाता है- बच्चों द्वारा अपने 'मंत्रों' का उच्चारण किए जाने की जोरदार आवाजों और चिल्लपों मचाए जाने से, जिसमें बाल सुलभ, सहज, आनन्द और खुशी भरी खिलखिलाहट का अभाव होता है।<sup>१</sup>

इस प्रकार पिछले दशक के दौरान स्कूलों की स्थापना करने पर बहुत जोर दिया गया है, लेकिन उनमें क्या होता है, उस पर नहीं। देश, स्कूलों में बहुत बड़ी संख्या में नाम अंकित कराने की दिशा

में काफी आगे बढ़ा है, हालांकि बहुत से बच्चे नियमित रूप से स्कूल नहीं जाते और काफी बड़े अनुपात में वे फेल हो जाते हैं, बार-बार एक ही कक्षा में रहने पर विवश हो जाते हैं और अन्ततः पढ़ाई छोड़ देते हैं। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा प्रणाली पर भारी पैमाने पर संसाधन व्यर्थ चले जाते हैं। अप्रासंगिक और उक्ताहटपूर्ण पढ़ाई, जो कुछ बिना सोचे समझे कंठस्थ किया जाता है, उसके अलावा सीखने और समझने के लिए कुछ न होना— यह है उन अधिकांश बच्चों का ‘अरूचिकर और कटु’ अनुभव, जो किसी न किसी प्रकार स्कूल जा पाने में समर्थ हो जाते हैं। शहरी शिक्षित समूहों में भी, जो अपने बच्चों को अपेक्षाकृत बेहतर प्रबन्ध वाले प्राइवेट स्कूलों में भेजते हैं, स्कूलों की समस्याओं से निपटना दिनों दिन एक कठिन काम बनता जा रहा है। विशेषज्ञता प्राप्त शिक्षकों (ट्यूटर) गाइड-पुस्तकों, और घर के काम और परीक्षाओं के मामले में माता-पिता द्वारा दी जाने वाली सहायता के बावजूद, अधिकांश बच्चे स्कूल को एक बोझ समझते हैं, और किशोर लड़के-लड़कियों की बहुत बड़ी संख्या अवसाद व निराशा, आत्म-विश्वास में कमी और अन्य मनोवैज्ञानिक समस्याओं से ग्रस्त बताई जाती है।<sup>12</sup>

दरअसल यह माना जाता है कि सरकार प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण के अपने उद्देश्य में इसलिए विफल हुई है कि विशेष रूप से गरीब लोगों में, जो अपने बच्चों को स्कूल भेजने का कोई कारण नहीं समझते ‘शिक्षा की मांग कम है। हाल के अध्ययनों से इस धारणा का खंडन होता है और शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार करने की आवश्यकता उजागर होती है। भारत के शैक्षिक रूप से पिछड़े कुछ हिंदी-भाषी राज्यों में किए गए एक सर्वेक्षण में यह पाया गया कि गरीब लोगों में भी 98 प्रतिशत माता-पिता यह समझते थे कि उनके लड़कों के लिए शिक्षा प्राप्त करना बहुत महत्वपूर्ण है, जबकि 89 प्रतिशत माता-पिता लड़कियों के लिए भी ऐसा जरूरी समझते थे। ‘पब्लिक रिपोर्ट आन बेसिक एजुकेशन (प्रोब 1999)’ में इस बात को नोट करते हुए यह कहा गया था कि “‘माता-पिता की उदासीनता की यह मिथ्या धारणा बहुतव्यापक रूप से फैली हुई है, विशेष रूप से सरकारी हल्कों में, जहां इससे भारत में स्कूलिंग के स्तर के नीचे होने की युक्तिसंगत ठहराने का एक सरल आधार प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत, सामान्य माता-पिता की यह उत्कट इच्छा होती है कि उनके बच्चों को अच्छी शिक्षा प्राप्त हो। यह अलग बात है कि उन्हें ऐसी शिक्षा प्रदान करने में शिक्षा प्रणाली की योग्यता पर हमेशा विश्वास नहीं होता’। ‘प्रोब’

अध्ययन द्वारा जिस एक मिथ्या धारणा का खंडन किया गया है, वह यह है कि “‘स्कूल न जाने वाले अधिकतर बच्चे इसलिए पढ़ने में असमर्थ होते हैं कि उन्हें काम करना होता है’”। यह देखा गया कि बच्चों की बहुत कम संख्या पूर्णकालिक मजदूरी करती है,<sup>3</sup> जबकि काम करने वाले अधिकतर बच्चे घरों अथवा खेतों में पारिवारिक श्रमिकों के रूप में काम करते हैं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि बाल श्रम और शिक्षा से वंचित रहने के बीच कारणात्मक संबंध यह है कि बच्चे इसलिए काम करते हैं क्योंकि वे स्कूल से पढ़ाई छोड़ चुके हैं, अनिवार्यतः इसके उल्टे रूप में नहीं।

अतएव बच्चे स्कूल से पढ़ाई छोड़ कर क्यों चले आते हैं? ‘स्कूल में ठीक से पढ़ाई नहीं होती, फिर क्या फायदा पढ़ने से’। यह बिहार के एक दलित परिवार के 10 वर्षीय बच्चे के उद्गार हैं। जिन कुछ कारणों से इसमें योगदान मिलता है, वे हैं घर और स्कूल दोनों जगह शैक्षिक समर्थन का अभाव, शिक्षण का नीचा स्तर, पाठ्यक्रम की अप्रासांगिकता, पुस्तकों, लेखन-सामग्री और वर्दियों की ऊँची लागत, दंड का भय, अपर्याप्त बुनियादी ढांचा, स्कूल के स्थान और कार्यक्रम का असुविधाजनक होना। विशेष रूप से लड़कियों के लिए, जिनसे अपेक्षा की जाती है कि वे छोटे बच्चों को संभालेगी और घर का काम-काज करेंगी, ये बाते और भी अधिक मुश्किल और काबू के बाहर हो जाती हैं, जो स्कूल के ‘सामाजिक फासले’ को बढ़ा देती है। कुछ मामलों में महिला अध्यापकों और शौचालय की अलग सुविधाओं का न होना भी एक बाधा बन जाता है। लेकिन विभिन्न देशों में उठाए गए अनेक कदमों के फलस्वरूप देखा गया है कि जब शिक्षा का एक ‘समर्थकारी’ वातावरण सुनिश्चित हो जाता है, तो वहीं बच्चे भागते हुए स्कूल चले आते हैं और दृढ़-संकल्प हो कर पढ़ाई जारी रखते हैं। भौतिक वातावरण के अलावा, जो दो अन्य बातें शिक्षा के वातावरण को प्रभावित करती हैं और जिनकी ओर अविलम्ब ध्यान दिया जाना जरूरी है, वे हैं, “‘पाठ्यक्रम और अध्यापक’”।<sup>4</sup>

हाल के वर्षों में प्रारम्भिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में परिवर्तन करने के प्रयत्न किए गए हैं, ताकि उसे बाल केन्द्रित, आनन्दपूर्ण और क्रियाकलाप आधारित बनाया जाए। लेकिन अधिकांश मामलों में केवल सतही और दिखावे भर के लिए परिवर्तन किए गए हैं और उनमें ‘गाने और नाचने’ की अधिक मात्रा शामिल कर ली गई है, जबकि उसकी विषय-वस्तु और डिजाइन का कोई बुनियादी पुनर्गठन नहीं किया गया

है। बच्चों की शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य धारणाओं के निर्माण को बढ़ावा देना और सिद्धान्त निर्माण की उनकी क्षमता में वृद्धि करना होना चाहिए। बच्चे अपने जीवन के प्रारम्भिक काल से उस दुनिया की, जिसे वे देखते हैं, अपनी व्याख्याएं करना शुरू कर देते हैं। पाठ्यक्रमों की रचना करने वाले लोगों की मुख्य रूप से शहरी मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि उस तरीके को निरन्तर प्रभावित करती रही है, जिससे ग्रामीण गरीबों और उनकी जीवन को समझा जाता है। एक विवक्षित प्रवृत्ति होती है कि उन 'पिछड़े' बच्चों को यह बताएं जाने की जरूरत है कि उन्हें अपना जीवन 'उपयुक्त ढंग' से किस प्रकार जीना चाहिए और उनके जीवन की केवल 'सकरात्मक' स्थितियों का चित्रण किया जाना चाहिए। इस प्रकार, स्कूलों में शुचिता, स्वच्छता, कड़े परिश्रम, आदि के बारे में या तो उच्च आदेशात्मक और नीतिपरक पाठ पढ़ाए जाते हैं अथवा ग्रामीण गरीबों की बोधगम्य 'जरूरतों' के बारे में बताया जाता है। स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों में सच्ची जनतांत्रिक पंचायतों, परोपकारी मालिकों, गांवों के सुसज्जित और सु-संचालित अस्पतालों और प्रभावकारी सरकारी स्कौलों की अति-आदर्शवादी स्थितियों को 'सामाजिक अध्ययन' के तथ्यों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। सुरक्षित शहरी घरों के बच्चों के विपरीत, गांवों के बच्चों को जीवन के संघर्षों और जीवन की जटिलताओं की, जो उनके जीवन की वास्तविकताओं का अंग होती हैं, कहीं अधिक जानकारी होती है। वे जानते हैं कि ये पाठ बनावटी और झूठ हैं, लेकिन उन्हें उन घिसी-पिटी बातों को बेमन से रटना पड़ता है और उनके बारे में आलोचनात्मक ढंग से प्रश्न पूछने का अवसर नहीं मिलता। गांव का बच्चा प्राकृतिक संसार के बारे में अधिक जानकर होता है और उसे मकड़ी की टांगों की गिनती करने, अथवा मेंढक के अंडों को अथवा नीम के वृक्ष के पत्तों को पहचानने के लिए तस्वीरों (आमतौर पर भद्रे रूप में खींची गई) को देखने की जरूरत नहीं होती। इसी प्रकार एक जनजातीय बच्चा अपने सामुदायिक ज्ञान से धातुओं की ढ़लाई अथवा चिकित्सकीय जड़ी-बूटियों और वनों की जैव-विविधता के बारे में अधिक जानकारी सीख सकता है, जिनकी चोरी करने और जिन्हें पेटेण्ट कराने में विदेशी कम्पनियों में होड़ हो सकती है, लेकिन जिसे स्कूल द्वारा 'बहुमूल्य' जानकारी के रूप में मान्यता नहीं मिलती। इस प्रकार, स्कूलों के पाठ्यक्रमों की संरचना जिस तरीके से की जाती है, उससे ग्रामीण बच्चे को 'प्रासंगिकता' के नाम पर घिसी-पिटी बाते पेश की जाती हैं।

और उन विषयों के मामलों में भी, जिनकी उसे बेहतर जानकारी होती है, उसे अपने ‘विशेषाधिकार प्राप्त’ शहरी सहपाठी से आगे नहीं बढ़ने दिया जाता।<sup>५</sup>

अतः गुणवत्ता वाली शिक्षा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण संसाधन अर्थात् अध्यापक की आवाज, सरोकार के इन मामलों में सबसे कमजोर होती है। ग्रामीण प्राथमिक स्कूल के अध्यापक की स्थान सोपानात्मक प्रशासनिक ढांचे में सबसे निचला होता है और उसे राष्ट्र-निर्माण के महत्वपूर्ण कार्य का बोझ बिल्कुल अकेले उठाना पड़ता है, उसे किसी का समर्थन प्राप्त नहीं होता और व्यवस्था अथवा प्रणाली की सभी विफलताओं के लिए उसे दोष दिया जाता है। इसके अलावा, अध्यापन अध्यापक को सौंपे गए बहुत से कार्यों में से केवल एक कार्य, और जहां तक प्रशासन का संबंध है, प्रायः सबसे कम महत्वपूर्ण कार्य होता है। जनगणना से निर्वाचन तक, परिवार नियोजन कार्यक्रमों से गरीबी के सर्वेक्षण तक, सरकार जिस समय जो भी कार्य जरूरी समझे, गांव के एकमेव बहुप्रयोजनी पदाधिकारी होने के नाते अध्यापक से उन सारे कार्यों को सम्पन्न करने की अपेक्षा की जाती है। जिन ग्रामीण स्कूलों में केवल एक अथवा अधिक से अधिक दो अध्यापक होते हैं, वहां यह समस्या अत्यधिक कठिन हो जाती है। लगातार कई-कई दिनों तक स्कूल बंद पड़ा रह सकता है, क्योंकि अध्यापक को ‘ड्यूटी’ पर बुला लिया गया होता है और इसके परिणामस्वरूप बच्चे और निरूत्साहित हो जाते हैं, क्योंकि घरों में कोई समर्थन या सहायता न मिलने के कारण, उनकी ओर वास्तव में कहीं अधिक ध्यान और अतिरिक्त समय दिए जाने की जरूरत होती है।<sup>६</sup>

### निष्कर्ष:-

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि सुझावों को पूरी इच्छा शक्ति के साथ क्रियान्वित करके अनुसूचित जाति के शैक्षणिक दिशा एवं दशा में व्यापक सुधार लाया जा सकता है। सरकार के भी साकारात्मक पहल की जरूरत है, आम लोगों के खास करके अनुसूचित जाति के लोगों के मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने के साथ-साथ उनकी आर्थिक स्थिति को भी सुदृढ़ किया जाएगा। विभिन्न स्तरों की सरकारों द्वारा इस दिशा में किए जा रहे प्रयास आंशिक रूप से हीं सफल हो रहे हैं। इसकी सफलता के लिए समाज के सभी वर्गों के लोगों की मनोवृत्ति में भी सकारात्मक परिवर्तन लाना होगा, तभी अन्य वर्ग एवं जातियों के समकक्ष अनुसूचित जाति के लोगों की शैक्षणिक स्तर में प्रगति हो सकेगी।

## संदर्भ

1. राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग की छठी रिपोर्ट 1999-2000 एवं 2000-01 अध्याय-VII, पृ० सं०- 368
2. मानव विकास रिपोर्ट- 2006, पृ० सं०- 151
3. सर्व शिक्षा अभियान, अध्याय-IX पृ० सं०- 502
4. वही- पृ० सं०- 506
5. बिहार महादलित विकास मिशन रिपोर्ट 2014-15 अनुसूचित जाति एवं जनजाति कल्याण विभाग, बिहार सरकार, पटना । पृ०संख्या - 54
6. बिहार राज्य अनुसूचित जाति सहकारिता विकास निलो, पटना, पृ०-1